



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(5): 06-08

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 04-07-2019

Accepted: 08-08-2019

डॉ. कादम्बरी शर्मा

सहायक प्राध्यापक संस्कृत  
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय  
रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

### धनञ्जयानुसार रस्निष्पत्ति

डॉ. कादम्बरी शर्मा

सारांश

“विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।  
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥”

विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त हुए रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में रसता को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुकार्य नायिकादिकों के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव विद्यमान रहते हैं, अतः रसानुभूति भी होती है, परन्तु काव्यार्थ की भावना से रस की प्रतीति सहृदय की ही होती है। अनुकार्य नायिकादिकों के हृदयों में नहीं।

मूल शब्दः धनञ्जयानुसार रस्निष्पत्ति

प्रस्तावना

साहित्य-शास्त्र के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के लक्षण तथा भेदादि इस प्रकार हैं—

“विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुर प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते—  
सामाजिकरत्यादिभावा एभिः इति विभावा ॥”

अर्थात् इनको विभाव इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इनसे सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रति आदि भाव रसास्वाद की अभिव्यक्ति के योग्य बनाये जाते हैं। इस विभाव के दो भेद होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। इन दोनों विभावों में से आलम्बन विभाव श्रीरामचन्द्र आदि नायक में होते हैं, क्योंकि उन्हीं का आशय लेकर रस की अभिव्यक्ति होती है। कहने का आशय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी के लिए सीताजी आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि सीताजी का आश्रय लेकर राम के हृदय में रस का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार सीताजी के लिए रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि सीताजी के हृदय में राम को आश्रय मानकर ही रस का उद्रेक हो रहा है। अतः राम और सीता दोनों एक-दूसरे के लिए रस की अभिव्यक्ति में आलम्बन विभाव कहलाते हैं।

“उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥”

अर्थात् जो रस को उद्दीप्त करके अतिशय पुष्ट करते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। ये उद्दीपन विभाव आलम्बन नायक-नायिका और प्रतिनायक प्रभृति की चेष्टाएँ तथा देश-काल आदि होते हैं।

“विशेषादाभिमख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः  
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥”

‘व्यभिचारी’ यह वि+अभि उपसर्गपूर्वक चर धातु से कर्तृता में ‘णिनि’ प्रत्यय से बनता है। अतः उपसर्ग के क्रम से अर्थ का निरूपण करते हुए विशेष रूप से अनुकूल होने के कारण उत्पन्न होते हुए स्थायीभाव में आविर्भूत तथा तिरोभूत होने वाले ‘व्यभिचारी’ भाव कहे जाते हैं। इस प्रकार “विभावानुभावापेक्षायां विशेषेण रस पुष्टिजनकभावत्वं व्यभिचारित्वम्” यह लक्षण फलितार्थ हुआ। इन व्यभिचारी भावों के तेतीस भेद होते हैं।

Correspondence

डॉ. कादम्बरी शर्मा

सहायक प्राध्यापक संस्कृत  
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय  
रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

निर्वेदादि आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा अनुकूल रूप से सञ्चारी होने के कारण 'व्यभिचारी' भाव कहलाते हैं।

अपने-अपने कारणों से उदबुद्ध स्थायीभाव को प्रकाशित करने वाला लोक में जो कार्य कहा जाता है, वह काव्य और नाट्य में पुनः 'अनुभाव' नाम से कहा जाता है। अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः इस अनुभाव की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभवविषयी कुर्वन्तीति अनुभावः।' इस प्रकार स्त्रियों के अंगज तथा स्वभावज अलंकार एवं सात्विक भाव और रत्यादि स्थायी भावों से उत्पन्न अन्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं।

**सञ्चारी भाव—** सञ्चारी भाव ही व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। विभाव और अनुभाव विशेष-रूप से आस्वाद की अभिव्यक्ति में अनुकूल होने के कारण रति आदि में रस-रूप से उत्पन्न होते हुए रत्यादि स्थायीभाव में आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले धर्म व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

### स्थायी भाव—

“विरुद्धैरविरुद्धै भावैर्विच्छिद्यते न यः।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।”

जिस प्रकार समान लक्षण वाले और समान अंग-प्रत्यंग वाले होते हुए भी कुछ पुरुष कुल, शील, विद्या, कर्म और शिल्प में विलक्षणता से युक्त हुए राजत्व को प्राप्त करते हैं और कुछ उन्हीं में से मन्द बुद्धि वाले होते हुए अनुचर होते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव का आश्रय लेते हैं।

इस प्रकार काव्यादि के सुनने अथवा नाटकादि देखने से आलम्बन-उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद, ग्लानि आदि तेतीस सञ्चारीभावों के द्वारा अभिव्यक्ति होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित वासनास्वरूप रति, हास, शोकादि भाव शृंगार, हास्य और करुण आदि रसों के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

यद्यपि “विभावानुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः” इत्यादि प्राचीन कारिकाओं के अन्दर सात्विक भावों को भी रसाभिव्यक्ति में कारण माना गया है, तथापि साहित्यदर्पणकार ने “सात्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ताः” अर्थात् स्तम्भनिर्वेदादि आठ सात्विक भाव, क्योंकि अनुभावस्वरूप हैं, अर्थात् सात्विक भावों का अन्तर्भाव अनुभावों में हो जाता है, अतः उनका यहाँ पर पृथक् निर्देश नहीं किया गया है, ऐसा कहकर सात्विक भावों को रसाभिव्यक्ति में अलग से कारण नहीं माना है। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में विभाव-अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का रस-परिपाक में इस प्रकार वर्णन किया है—

“विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः।।”

विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायीभाव ही रस कहलाता है।

श्रोताओं तथा दर्शकों के हृदय में विशेष रूप से विद्यमान रति आदि भाव स्थायी भाव होता है। जो आगे बताये गये स्वरूप वाले काव्य में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और सात्विकभावों के द्वारा आस्वादन के योग्य अर्थात् अत्यधिक आनन्दमय अनुभूति के रूप में प्रकट कर दिया जाता है, वह रस कहलाता है। इस प्रकार सामाजिक ही रसिक हैं, काव्य तो केवल उस प्रकार की आनन्दानुभूति के उद्बोधन का कारण होने से रसवत् कहलाता है, जिस प्रकार 'आयुर्धृतम्' इत्यादि व्यवहार हुआ करता है।

“ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृतः।

आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेनस च द्विधा।।”

जरस के उद्भावकों में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर स्थायीभाव को पुष्ट करता है। वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है। यह ऐसा है, इस प्रकार जो नायक आदि या अभीष्ट होकर देश-काल आदि काव्य के अतिशयोक्ति-रूप में वर्णन के द्वारा विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन के रूप में अथवा उद्दीपन के रूप में जाने जाते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। जैसा कि भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है— विभाव अर्थात् जाना हुआ अर्थ है। जिस रस के जो विभाव होते हैं और ये बाह्य सत्ता की अपेक्षा किये बिना ही शब्द की उपाधि के द्वारा अपने-अपने रूप में प्रकट होते हैं। ये सामान्य रूप वाले होते हैं तथा सभी सहृदयों के द्वारा अपने आप से सम्बन्ध रखते हुए समझे जाते हैं। इस प्रकार सहृदयों के चित्त में साक्षात् रूप से स्फुरित होते हुए ये आलम्बन आदि हो जाते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि काव्य में वर्णित नायक आदि तो वस्तुतः इस समय विद्यमान नहीं हैं, फिर वे सहृदय के भावोद्बोधन में आलम्बन आदि कैसे हो सकते हैं इसका समाधान करते हुए धनिक ने कहा है— 'अभीपाय' भाव इत्यादि यह मैं— यह ठीक है कि काव्यगत-नायक आदि की इस समय कहा जगत् में सत्ता नहीं है, किन्तु इससे कोई दोष नहीं आता, क्योंकि उन्हें रस का आलम्बन बनाने के लिए उनकी बाह्य जगत् में सत्ता अपेक्षित नहीं है। वस्तुतः उनकी बुद्धिगत सत्ता अपेक्षित है और वे साक्षात् रूप से सहृदय के चित्त में स्थित रहते ही हैं। काव्य के शब्दों के द्वारा उनके अपने-अपने रूप उपस्थित हो जाया करते हैं।

“अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृंगारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।”

उनमें आलम्बन विभाव वह है, जैसे 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा की उक्ति में वर्णित उर्वशी आलम्बन विभाव है। उर्वशी के रचना-कार्य में क्या कान्तिदायक चन्द्रमा प्रजापति है? अथवा जिसका शृंगार ही प्रधान रस है, वह कामदेव ही उसका स्वयं स्रष्टा है या पुष्पों का निधानभूत मास अर्थात् मधुमास वसन्त इसका निर्माता है? क्योंकि वे अभ्यास से श्रीधनञ्जय कृण्ठित सुन्दर विषयों में औत्सुक्यरहित पुरातन मुनि ब्रह्मा इस स्मणीय रूप के निर्माण में कैसे समर्थ हो सकता है।

### अनुभाव

“अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।।”

अर्थात्-रति आदि भावों को सूचित करने वाला विकार (शरीर आदि का परिवर्तन) अनुभाव है। यथा—

“उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भूलतं

स्वेदाम्भः सपितांगयष्टिविगलद्वीडं सरोमाञ्जया।

धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं

मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः।।”

सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराने वाले तथा रस को पुष्ट करने वाले भ्रूविक्षेपसहित कटाक्ष आदि अनुभाव हैं, क्योंकि ये अभिनय तथा काव्य में अनुभावित होने वाले रसिकों को साक्षात् अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं। इसलिए ये रसिकों में अनुभवन या अनुभाव कहे जाते हैं। भाव को सूचित करने वाला विकार ही अनुभाव कहलाता है।

जैसे-यह धनिक का ही पद्य है- "हे मुग्धे ! रोमाञ्चयुक्त ऊपर मुख किये जमुहाई लेकर, स्तनतट को ऊपर उभारकर, भूलता को चञ्चलता से घुमाकर, स्वेद जल के द्वारा भीगे शरीर से लाज को बहाकर तुमने स्पृहापूर्वक जिसके मुख पर क्षीर-सागर के फेन-पटल के समान श्वेत कटाक्षों की छटा बिखेरी है, वह अनोखा धन्य है।"

इस दृष्टि से काव्य-नाट्य में वर्णित या अभिनीत कटाक्ष आदि ही अनुभाव हैं। अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति है- "सामाजिकान् स्थायिभावान् अनुभावयन्ति इति।" अर्थात्-जो सामाजिकों को स्थायी भावों का अनुभव कराते हैं। काव्य-नाट्य में अनुभावों का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर सामाजिकों को दुष्यन्त आदि के रति भाव का अनुभव हो जाता है। इसी से अनुभाव रस-पोषण के निमित्त हो जाया करते हैं।

ये दोनों क्रमशः कारण एवं कार्य होते हैं, अतरु इनका स्वरूप लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध है। विभाव तथा अनुभाव क्रमशः लौकिक रस के कारण एव का लोक-व्यवहार से ही जान लिये जाते हैं, अतः उनका पृथक् लक्षण करना आवश्यक नहीं।

"सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।"

सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा भावित करना ही भाव है। रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं अथवा कवि के आन्तरिक भाव को प्रकट करने के कारण ये भाव कहे जाते हैं, वे भाव स्थायी तथा व्यभिचारी भाव होते हैं।

"पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः।  
सत्त्वादेव... समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।।"

अन्य जो सात्विक भाव हैं, यद्यपि ये अनुभाव ही हैं, तथापि पृथक् रूप से भाव कहलाते हैं, क्योंकि उनकी सत्त्व से ही उत्पत्ति हुआ करती है। सत्त्व का अर्थ है-किसी भाव से भावित होना। दूसरी ओर ये अश्रु आदि भाव से उत्पन्न होते हैं तथा उनकी सूचना देते हैं, अतरु अनुभाव भी कहलाते हैं। इस प्रकार इनके दोनों रूप होते हैं।

"विशेषादाभिमुख्य न चरन्तो व्यभिचारिणः।  
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।"

विविध प्रकार से अभिमुख चलने वाले भाव व्यभिचारीभाव कहलाते हैं, जो स्थायी भाव में उसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं, जिस प्रकार सागर में तरंगें।

जिस प्रकार सागर में होने पर ही तरंगें उत्पन्न होती हैं और विलीन होती हैं, उसी प्रकार रति आदि स्थायीभाव के होने पर ही उसको लक्ष्य करके जिनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, ये निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। भाव यह है कि सागर में लहरों के समान स्थायीभाव उत्पन्न होकर तथा विलीन होकर जो निर्वेद आदि भाव रति आदि स्थायीभाव को विविध प्रकार से पृष्ठ करते हैं, उसे रसरूपता की ओर ले जाते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त जो अन्य चित्तवृत्तियाँ हैं, उनका इन्हीं के विभाव तथा अनुभाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

### निष्कर्ष

नाट्यशास्त्र में व्यभिचारीभावों की संख्या तेतीस बतायी गयी है, किन्तु भानुदत्त आदि कतिपय आचार्यों ने इनके अतिरिक्त छल आदि को भी व्यभिचारीभाव माना है। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता आदि का भी व्यभिचारीभाव के रूप में उल्लेख किया गया है। विश्वनाथ कविराज ने इन्हें तेतीस व्यभिचारीभावों के निरूपण का उपलक्षण मात्र बताया है। इन तेतीस भावों के अतिरिक्त अन्य भी व्यभिचारीभाव हो सकते हैं। दूसरी ओर

साहित्यशास्त्र में भी एक ऐसी ही परम्परा प्रतीत होती है, जिसके अनुसार व्यभिचारीभाव बाईस ही हैं।

धनिक भी इस मत को मानने वाले प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ का भाव यह है कि व्यभिचारी भाव विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं जो रस के पोषण में सहायक हुआ करती हैं, फिर भी उनका पृथक् कथन करना आवश्यक नहीं। कारण यह है कि उनमें से कुछ चित्तवृत्तियाँ उक्त तेतीस व्यभिचारीभावों के विभाव रूप में होंगी, कुछ इनके अनुभाव रूप में ही, इसलिए उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है-

"अन्येऽपि यदि भावाः स्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः।  
अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्या व्यभिचारिषु।।"

इनको सञ्चारीभाव या व्यभिचारीभाव भी कहते हैं तथा मानसिक एवं शारीरिक व्यक्तपाद के कारण ये अनुभाव भी कहलाते हैं। धनञ्जय ने स्पष्ट किया है कि इन्हीं को व्यभिचारीभाव के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है।

### संदर्भ

1. साहित्य दर्पण, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
2. काव्यप्रकाश, ज्ञान मंडल प्रकाशन, वाराणसी
3. नाट्यशास्त्र : मोतीलाल बनारसीदास, पटना
4. काव्यशास्त्र का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा प्रकाशन, दिल्ली
6. काव्यमिमांसा, राजमणि प्रकाशन, इलाहाबाद
7. काव्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास, पटना
8. वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्भा प्रकाशन, दिल्ली
9. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, मोतीलाल बनारसीदास, पटना
10. दशरूपक, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी